ज़िन्दगी का सिस्टम

आयतुल्लाहिलउज़्मा सैय्यिदुलउलमा सै० अली नक़ी नक़वी ताबा सराह
सम्पादनः नूरे हिदायत फ़ाउन्डेशन

क़िस्त-5

'सूझबूझ' और न्याय इन्साफ़ः

"खुदा" जो कुछ करता है वह काम कैसे हो सकते हैं? इस जगह एक गिरोह यह मानता है कि वही अच्छाई और बुराई दोनों का पैदा करने वाला है और ये कि अत्याचार, बेइन्साफ़ी, झूठ अदि सारी बुराईयाँ इसके लिए जायज़ और ठीक हैं। वह जो चाहे करे उसके लिए कोई रोक नहीं है। ज़ाहिर है जब ख़ुदा की ज़ात के बारे में हमारा नज़रिया/धारणा इस दर्जे तक सीमित रहेगा तो फिर उसके बाद तो और गिरावट होती चली जायेंगी। कहावत मशहूर है - "वज़ीरे चुनीं शहरयारे चुनॉ "जैसा वज़ीर वैसा बादशाह।

जब ख़ुदा इस तरह का है तो उसका रसूल (दूत) उसी तरह से होगा और जब रसूल का दर्जा ये होगा तो उसके उत्तराधिकारी ऐसे ही होंगे और जब अगुवाओं का ये हाल है तो फिर अनुयायिओं और चेलों का पूछना ही क्या ?

जब ख़ुदा के लिए दोष सही है तो फिर नीचे के दर्जो में तो इस्मत (निष्पाप होने) का ख़्याल ही असम्भव है।

इस विश्वास से बुरी बातों की बुराई बिल्कुल हल्की हो जाती और ज़ुल्म अन्याय वग़ैरह की अहमियत इन्सान को महसूस नहीं होती। मुमकिन है कि इस विश्वास के रखने वालों में भी ऐसे लोग हों और सचमुच होते हैं जो अपने नैतिकता से सभ्य इन्सान कहे जा सकें मगर ये उनके विश्वास का चाहना नहीं है बल्कि उनके अच्छे स्वभाव, प्रकृति की खूबसरती का नतीजा है। इसके ख़िलाफ सच्चा मज़हब यह सिखाता है कि ख़ुदा की ज़ात सारी बुराईयों से दूर और पाक है। वह न्यायसंग और सूझबूझ वाला है। उसका हर काम अच्छाई ही है और बुराई उसके यहां नहीं है क़ुराने मजीद ने ख़ुदा की ख़ूबियों के बयान में इस अ़मली (Practical) पहलू पर बहुत ध्यान दिया है -"अल्लाह ज़ालिमों अत्याचारियों को नही चाहता। अल्लाह उपद्रव करने वालों को नही चाहता।"

फिर जब वह दूसरों से ज़ुल्म और बवाल वग़ैरह को पसन्द नहीं करता तो अपनी तरफ़ से इन चीज़ों को कैसे पसन्द कर सकता है इसका ये मतलब नहीं कि उसकी क़ुदरत सामर्थ्य सीमित है या वह बेबस है बल्कि यह नहीं हो सकता है कि वह अपने निजी कमाल पूरापन और सूझबूझ की ऊँचाई के लेहाज़ से इन बातों को करे। इस विश्वास के साथ इन्सान के दिमाग़ में इन बातों की बुराई और बुरे कामों से नफ़रत का एहसास पैदा होता है और उनमें प्राकृतिक तौर पर इन चीज़ों से दूर रहने का ख़्याल पैदा होता है ।

बेबसी व स्वेच्छा/विवेकः

एक गिरोह का मानना है कि इन्सान जो कुछ काम करता है वह ख़ुदा की तरफ़ से है, इन्सान नमाज़ पढ़ता है तो वह नहीं पढ़ता बल्कि ख़ुदा पढ़वाता है, और ये शराब पीता है तो ख़ुद से नहीं पीता बल्कि ख़ुदा पिलवाता है। इन्सान एक बेजान औज़ार की तरह ख़ुदा के हाथ में चलता है और ये अपनी तरफ़ से कोई बात नहीं करता । ग़ौर कीजिए ये मानना अगर दुनिया के दिमाग़ पर पूरी तरह असर करे तो दुनिया में कोई मुजरिम अपने जुर्म के बाद लाज महसूस ही न करे और न कोई पापी गुनाह का इक़रार करे, किसी इन्सान को सुधारने का जो रास्ता है उसके दरवाज़े बन्द हो जाएं और सिखाई पढ़ाई बेकार जाए क्योंकि इस मानने से दुनिया में जो कुछ काम होते हैं वह इन्सान की तरफ़ से नहीं बल्कि ख़ुदा की ओर से होते हैं बल्कि इस लेहाज़ से तो एक पापी और मुजरिम इन्सान इज़्ज़त के लायक़ है कि वह अल्लाह के चाहे को पूरा करने का ज़रिया और ख़ुदा की मर्ज़ी को कर्म से ज़ाहिर कर रहा है।

क्या इस तरह जीवन के सिस्टम को करने से

सुधारा जा सकता है, और इन्सान के चाल चलन को पूरी तरह अच्छा बनाना मुमकिन है ?

आइम्मए मासूमीन (बे गुनाह इमामों[अ०]) की शिक्षा और मज़हब का सही मानना ये है कि इन्सान जो कुछ करता है उसका वह खुद ज़िम्मेदार है, अच्छे काम भी वही करता है और बुरे काम भी वह अपने चाह और विवेक से करता है। बेशक अच्छे कामों में ख़ुदा की तरफ़ से मदद होती है जिसका नाम है ''तौफ़ीक़'' (यानी ख़ुदा बन्दे की नेक चाहत के अनुसार नेक रास्ते पैदा कर देता है) मगर इसकी वजह से वह इन्सान के चाहे कर्म की हद से बाहर नहीं होता, और अक्सर बुरे कामों की वजह बाहरी बहकावे और शैतान के वसवसे होते हैं जिससे इन्सान बुराई को कर डालता है। मगर फिर भी इन्सान बेबस नहीं होता और इनाम व सज़ा, सब इन्सान के निजी कामो का नतीजा है। इस लेहाज़ से हर मुसलमान को अपने कर्म को सुधारने का मौक़ा मिला है और उसका फ़र्ज़ है कि वह हर गुनाह से दूर रहे और अच्छे आमाल का पाबन्द (नियमित) बने। ऐसा न करने की सूरत में मुजरिम वही होगा और उसकी ज़िम्मेदारी किसी दूसरे पर लागू नहीं होगी ।

बदाः

यहूदियों का मानना था कि ख़ुदा को जो कुछ मुक़र्रर (निश्चित) करना था उसे 'अज़ल' (वह समय जब सृष्टि की रचना हुई) में तय कर चुका। अब वह कोई बदलाव नहीं कर सकता। क़ुर्आन मजीद में इस मानने का इन शब्दों में बयान किया गया है और इस विश्वास का खण्डन किया गया है कि -

''ये कहते हैं कि ख़ुदा के हाथ बंध गये हैं, खुद इनके हाथ बंधे हुए होंगे और ये लानत (धिक्कार) के लायक़ हैं अपने इस कथन की वजह से, बल्कि उसके हाथ खुले हुए हैं वह जिस तरह चाहता है देता है''।

बुरे भाग्य से मुसलमानों के एक बड़े गिरोह में भी ये ख़्याल पैदा हो गया कि ख़ुदा के मुक़र्रर (निश्चित) फ़ैसलों में बदलाव नामुमकिन है यानी ख़ुदा ने जो एक बार फ़ैसला कर दिया उसमें बदलाव असम्भव है। वह कहते हैं कि फ़ैसले का बदलना पछतावे का नतीजा होता है और शर्मिन्दा वही होता है जो नतीजे से बेख़बर हो। ख़ुदा के फ़ैसले में बदलाव को मानना उसके जानने के फैलाव (ज्ञान का विस्तार) का इन्कार करना और उसका नतीजा अनजान ठहराना है, इसलिए ये सही नहीं है ।

शिया फ़िरके के विश्वास में ख़ुदाके हुक्म समझ और वजह के लेहाज़ से होते हैं, इसलिए सूरते हाल (परिस्थितियाँ) और वजहों के बदल जाने के साथ उन हुक्मों में भी बदलाव होना चाहिए। इसी का नाम ''बदाअ'' है। ये कहना कि फ़ैसले में बदलाव हमेशा पछतावे और नतीजे के ना जानने ही का है, ये सही नहीं है, क्योंकि ये हो सकता है कि फ़ैसला किसी वक़्ती समझ की बुनियाद पर किया गया हो, चाहे फ़ैसला करने वाले को पहले से मालूम हो कि आने वाले समय में इस तरह से बदलाव होगा ।

इसकी मिसाल यह है कि आप के यहां नौकर की तनख़्वाह निश्चित है और वह सात रूपये महीना है। एक नया नौकर आपके यहां आता है, हो सकता है कि आप जानते हों कि ये इतना वफ़ादार इतना कुशल और बासलीक़ा है कि इसकी सेवाओं के बदले में मुझ को बाद में एक रुपया महीना इसकी तनख़्वाह में बढ़ाना पड़े। मगर इस वक़्त ऐसी कोई वजह नहीं पायी जाती जिस की वजह से आप अपने उसूल को तोड़ दें इसलिए आप खुद इस नौकर को भी यही बतायेंगे कि तुम्हारी तनख़्वाह सात रूपया महीना है और दूसरे लोगों से भी यही कहेंगे और रजिस्टर पर भी यही दर्ज करेंगे। बेशक जब वह कोई ऐसा काम करेगा तो आप इसकी तनख़्वाह का सुबूत पेश करेंगे तो आप इसकी तनख़्वाह बढ़ा देंगे उस वक़्त खुद उससे भी कहेंगे कि तुम्हारी तनख़्वाह बढ़ा दी गई और अपने रजिस्टर में भी बदलाव करेंगे, मगर क्या इसकी वजह से आपकी दूरअन्देशी और नतीजा (Result) जानने पर असर पड़ता है? हरगिज़ नही ।

यूँ ही समझ लीजिए, ख़ुदावन्दे आ़लम के फैसले समझ और वजह पर होते है। वह कयामत तक की बदलने वाली तमाम हालतों को हमेंशा से जानता है, मगर किसी ख़ास वजह के सामने आने से पहले उसके मुताबिक़ (क़रार देना) निश्चित करना सूझबूझ के ख़िलाफ है, लेहाज़ा जैसा वक़्त होगा वैसी बात होगी। फ़ैसला एक काम है और जानने का गुण है। अ़मल बदलता है, मगर

इल्म हमेशा से है इसमें बदलाव हरगिज़ नहीं है।

अब देखिये कि इस मानने का इन्सान के कामों पर क्या असर पड़ता है? ज़ाहिर है कि अक्सर इन्सान खुदगर्ज़ (स्वार्थी) होते हैं, यानी अपना कोई फ़ायदा चाहते हैं, और ऐसे ऊँचीं नज़र वाले लोग कम होते हैं जो सिर्फ़ "मर्जी-ए-मौला अज़ हमा औला" यानी "मालिक की मर्ज़ी सबसे ऊपर है" के उसूल पर काम करते हों । अगर इन्सान यें समझे कि जो कुछ वह करता है, उसका कोई नतीजा नहीं है और खुदा के जो फ़ैसले मख़लूक की पैदाइश के दिन हो चुके हैं वह होकर रहेंगे तो इन्सान दौड़ धूप (संघर्ष), कोशिश और कर्म को बेकार समझेगा और मेहनत व परिश्रम का कोई फ़ायदा महसूस नहीं करेगा, क्योंकि जो कुछ होने वाला है वह तो हर हाल में होगा, इसके किये से कुछ नहीं होगा। लेकिन अगर इन्सान ये समझेगा कि हमारे काम और अ़मल से भाग्य भी बदल जाता है और खुदा के फ़ैसले भी हमारे हालात के लेहाज़ से बदलते हैं तो उसके अन्दर एहसास पैदा होगा कि हम अपने काम को और अच्छा बनायें ताकि हमें अच्छा फल मिल सके।

ख़ुदा अपने बन्दों के लेहाज़ से सिर्फ़ एक हाकिम की हैसियत नहीं रखता जिसको ज़बरदस्ती सिर्फ़ अपने हुक्म के मनवाने से ही मतलब हो बल्कि वह इसके साथ एक भलाई चाहने वाले सलाहकार और मशवरा देने वाले की हैसियत भी रखता है इसलिए वह अपने हुक्मों में एक तरफ़ तो शासक के अन्दाज़ में आख़ेरत के इनाम और कहना न मानने पर आख़ेरत की सज़ा का पैग़ाम देता है और दूसरी तरफ़ वह इन आमाल के फ़ायदों को ज़ाहिर करते हुए इनके दुनियाँ के फ़ायदों और विशेषताओं को बताता है।

सदक़ा बला (मुसीबत) को टालता है, गरीबों की देखभाल, ख़बर लेने (मदद) से उम्र लम्बी होती है, वग़ैरह-वग़ैरह।

ये बातें इन्सान को नेक अ़मल के लिए उकसाती है यानी अच्छे से अच्छे काम की तरफ़ ले जाता है।

मान लीजिए वह हज़रत ईसा[अ०] का मशहूर वाक़िया कि आप ने एक दुल्हन के बारे में हुक्म लगाया था कि वह कल मर जाएगी, और दूसरे दिन ऐसा नहीं हुआ और जांच पड़ताल पर यह मालूम हुआ कि उसने एक भूखे को खाना खिला दिया था इसलिये बला टल गई और उसकी उम्र बढ़ गई । ये वाक़्या आपके सामने हुआ होता तो क्या इसी तरह आप फ़कीरों को टाल दिया करते और ग़रीबों की तरफ़ से मुँह फ़ेर लिया करते जैसे अभी करते हैं ।

कुर्आन मजीद और इसकी आयतों को ग़ौर व फ़िक्र (चिन्तन व मनन) की आँख से देखिए और मज़हबी शिक्षाओं पर ग़ौर कीजिए तो आपको मालूम होगा कि मज़हब के माने हुए अक़ीदे व तालीमों में बहुत सी ऐसी बातें हैं जिन की असली बुनियाद ही यही है कि ख़ुदा के फ़ैसले वजहों और समझबूझ के लेहाज़ से बदल जाते हैं और यही वह है जिसका नाम 'बदा' है, जिस पर हमें ताना दिया जाता है । आईये ज़रा इसे समझें ।

नीचे लिखी बातों को देखिए :-

(1) मग़फ़ेरत (क्षमा/माफ़ी) -

सारे मुसलमान मानते हैं कि ख़ुदा गुनाहों को माफ़ करता है । सवाल ये पैदा होता है कि जिस वक़्त गुनाह किया उस वक़्त ये शख़्स अज़ाब का हक़दार (पात्र) बना या नहीं ? तो फिर माफ़ी के कोई मानी नहीं और अगर बन गया तो मग़फ़ेरत (बख़्शिश) के बाद वो हुक्म बदला या नहीं ? अगर नहीं तो माफ़ी कोई चीज़ ही नहीं और अगर बदला तो यह वही है कि जिसको नकारा जा रहा था। इस विषय पर कुर्आन की वह सारी आयतें पेश की जा सकती है जिनमें माफ़ी का बयान है।

(2) तौबा -

बन्दों की तौबा जो सच्चे दिल से हो क़ुबूल होती है, इस अक़ीदे को सारे मुसलमान क़ुबूल करते हैं। इसके मानी यही है कि इन्सान गुनाह करने के बाद ख़ुदा के अज़ाब का मुसतहक़ बन गया था और तौबा की वजह से जो इन्सान का अ़मल है, इस फ़ैसले में बदलाव होगा। उस वक़्त ये जहन्नुम का हक़दार था और अब ये जन्नत का हक़दार है ।

क्या ये वही चीज़ नहीं है जिसे 'बदाअ' कह कर उस पर एतराज़ किया जाता है?

(3) शफ़ाअ़त -

नबियों(अ०) और मासूमों(अ०) बल्कि आम मोमिन और ख़ास तौर से आख़री नबी हज़रत मोहम्मद(स०) के लिए शफ़ाअत का दरजा तमाम मुसलमानों के नज़दीक साबित है, यानी आप की सिफ़ारिश बहुत से गुनाहगारों की माफ़ी (बख़्शिश) की वजह होगी। अब बताईये कि इस सिफ़ारिश के पहले ये लोग जहन्नम में जाने वाले थे या नहीं, अगर नही ंतो सिफ़ारिश की जरूरत नहीं और अगर थे तो शफ़ाअ़त से फ़ैसला बदला या नहीं।

(4) दुआ़ -

कुर्आन मजीद में दुआ़ का हुक्म मौजूद है और इसके कुबुल होने का वादा किया गया है। मुसलमानों का मानना भी इसके मुताबिक़ है, मगर क्या इस ख़्याल के मुताबिक़ कि जो कुछ फ़ैसला होना था, हो चुका अब वह बदलने के क़ाबिल नहीं है दुआ़ का कोई नतीजा सामने आ सकता है और दुआ़ के कुबूल होने के कोई मानी हो सकते हैं? दुआ़ और उसके कुबुल होने से साफ़ ज़ाहिर होता है कि इन्सान के कर्मोंसे मोक़र्रर (निश्चित) बातों में बदलाव हो सकता है, इसी का नाम 'बदा' है।

इसके अलावा अगर ग़ौर किया जाए तो कुफ़ के बाद इमान लाने से नजात का हुक्म बिल्कुल इसी बुनियाद पर निर्भर है ।

एक शख़्स पहले काफ़िर (नास्तिक) था, इसके लिए ख़ुदा का फ़ैसला क्या है? कुर्आन कहता है कि वह ''हमेशा जहन्नम में रहेगा''। आप किसी नबी और रसूल से पूछिये तो वह इसके बारे में यही हुक्म लगाएगा इसलिए कि इसके काफ़िर होने का नतीजा यही है। इसके बाद वह ईमान ले आता है ख़ुदा को मान लेता है और '*ला इलाहा इल्लल्लाह मुहम्मदुर्रसूलुल्लाह*' ज़बान पर लाकर सच्चे दिल से मुसलमान हो जाता है, बताईये अब इसका क्या हुक्म है? ये जन्नत का हक़दार है और अगर अभी दुनिया से उठ (इन्तेक़ाल) जाए, तो बिला हिसाब जन्नत में जायेगा। देखिए इन्सान के काम और हालात के बदलने से फ़ैसले में कितना बड़ा बदलाव हो गया।

इस लेहाज़ से देखा जाए तो कुर्आन शुरू से लेकर आखिर तक 'बदा' की शिक्षा देता है, क्योंकि वह काफ़िरों को ईमान लाने की दावत देता है, और उस पर नजात (मोक्ष) का वादा करता है और ये कहता है कि ऐसा न करोगे तो तुम जहन्नम में जाओगे । इसके मानी ये है कि वह अपने फ़ैसलों को इन्सान के कर्मो के साथ जोड़ देता है और इन्सान के हालात के बदलने से फ़ैसलों को बदल देता है और इन्सान के कामों का सुधार इसी विश्वास से जुड़ा है।

भला अगर अबुजहल को मालूम हो जाए कि मैं लाख मुसलमान हो जाऊँ मगर जो मेरे बारे में फ़ैसला हो चुका, वह बाक़ी रहेगा तो उसे इसलाम लाने की ज़रूरत क्या है और अगर एक गुनहगार इन्सान ये समझ ले कि अब मैं लाख अच्छे काम करूँ, मगर मेरे बारे में जो फ़ैसला हो गया है वह बदल नहीं सकता, तो उसे क्या पड़ी है कि वह अपने मन की चाह के ख़िलाफ अच्छे कामों पर चलने लगे। इन्सान के कर्मों का सुधार इसी विश्वास पर निर्भर है कि इन्सान के हालात के बदलने के लेहाज़ से ख़ुदा के फ़ैसले बदल सकते हैं।

मैने जो कुछ सुर्ख़ियाँ दी हैं, इनमें कुर्आन की ढेरों आयतें लाई जा सकती हैं और इसके अलावा बहुत सी ख़ास आयतें हैं जो 'बदा' के मसले को साबित करने के लिए अटल और अचक है। चूँकि मैने इस बारे में अब तक कभी क़लम नहीं उठाया था इस लिए यहां मैने ज़रा विस्तार से काम लिया और अगर मौक़ा मिला तो बाद में एक किताब लिखने के लिए लिख दिया। बाद में अगर मैं न भी लिख सकूँ तो इसी छोटे से बयान को सामने रख कर किसी दूसरे लेखक के लिए बड़ी किताब लिख लेना आसान है ।

नबूवत (नबी का होना):

ख़ुदा के होने, ज्ञान और उसके गुणों के बाद नबूवत का दर्जा है। नबी की ज़रूरत के सिलसिले में सारे मज़हब के लोगों में कोई मतभेद नहीं है । हाँ नबी की विशेषताओ के सिलसिले से अलग अलग विचार हैं।

बहुत से लोग नबियों के लिए निष्पाप होना (सारे गुनाहों से पाक और अलग थलग होना) को ज़रूरी नहीं समझते और किसी न किसी हद तक गुनाह की इजाज़त देते हैं, चाहे ये कि वह बड़े गुनाहों से पाक होते हैं मगर छोटे गुनाहों को कर सकते हैं । चाहे ये कि

बेसत (नबी के नबी होने का ऐलान) के बाद गुनाहों से पाक है, मगर बेसत से पहले गुनाह कर सकते हैं। चाहे ये कि जान-बूझ कर गुनाह नहीं करते, मगर ग़लती या भूल व चूक से गुनाह हो सकता है। शिया फ़िरके का यह विश्वास है कि नबी हर हाल में सारे गुनाहों से पाक हैं।

अक़्ली दलीलों और तर्क से ये बात बिल्कुल साफ़ है नबी आते हैं अल्लाह के बन्दों को रास्ता दिखाने के लिए, इसीलिए इनके हाथों किसी तरह ख़ुदा के बन्दों के बहकने का खटका नहीं होना चाहिए और अगर नबी किसी तरह भी ग़लती करेगा तो उससे किसी न किसी हद तक ख़ुदा के बन्दों का भटकना बहकना और ग़लतफ़हमी का शिकार होना मुम्किन है । अब देखिए कि इन्सान के कामों पर इस बात का क्या असर पड़ता है? ये बिल्कुल साफ़ है। अगर ये मान लिया जाए कि अम्बिया भी गुनाह करते हैं तो आम इन्सानों की निगाह में गुनाह करने की कोई अहमियत बाक़ी नहीं रहेगी बल्कि मैं तो समझता हूँ कि ये मानना दुनिया को गुनाह करने के लिए उकसाता है क्योंकि हर कोई समझेगा कि जब नबी जैसे ऊँचे, अल्लाह वाले लोग गुनाह कर सकते हैं तो हमें गुमराह करने के बाद दोषी कैसे ठहराया जा सकता है ।

इसके ख़िलाफ ये मानना कि अम्बिया का दामन गुनाहों से बिल्कुल पाक है, ये ख़ुदा के बन्दों का सुधार करता है और कर्मों के पूरे विकास की वजह और उसका ज़िम्मेदार हो सकता है।

इमामत (इमाम का होना):

रसूल के बाद लोगों को सही रास्ता दिखाने और धर्म के बाक़ी रखने के लिए एक प्रशासक की ज़रूरत है। मुसलमानों में से एक तबक़े (वर्ग) का ख़्याल है कि इसके चुनाव का हक़ जनमानस (आम लोग) को होना चाहिए।

वह कहते हैं कि इमामत का चुनाव रसूल(स०) की तरफ़ से होना और एक के बाद दूसरे इमामों का सिलसिला होना जनतन्त्र से टकराता है। मगर ये ख्याल बिल्कुल ग़लत है जनतन्त्र यानी आम लोगों के चुनाव का उसूल तो उसी वक़्त टूट गया जब नबी का चुनाव हमारे हाथ नहीं हुआ और जब हम नबी की नबूवत को ख़ुदा की तरफ़ से मान चुके तो किसी दूसरे को इस में क्यों, क्या करने का या इसके ख़िलाफ़ अपने चुनावी हक़ को पेश करने का क्या हक़ है।

चूँकि आम इन्सान जज़्बात (भावनाओं) से जुड़े होते हैं और हर चीज़ में स्वार्थ और अपना मतलब देखते हैं इसलिए आम लोगों का चुनाव बिल्कुल निःस्वार्थ और निष्पक्ष तरफ़दारी से ख़ाली नहीं समझा जा सकता और इसमें ग़लती भी मुम्किन है। इसलिये ज़रूरत है कि लोगों को रास्ता दिखाने वाले (अगुआ) को ख़ुदा अपनी ओऱ से बनाये और जिस तरह नबी उसकी तरफ़ से भेजा हुआ होता है उसी तरह नबी का वारिस उत्तराधिकारी भी उसी की तरफ़ से हो ।

वह लोग जो इमाम के चुनाव को अपने हाथ में लेते हैं वह उसके लिए मासूम (सारे गुनाहों से पाक) होना ज़रूरी नहीं समझते क्योंकि आम इन्सान की निगाह इस्मत (बेगुनाही) तक जा ही नहीं सकती । मगर जबकि इमाम की नियुक्ति ख़ुदा की तरफ़ से है तो उसे मासूम होना भी ज़रूरी है वरना उसके हाथों ख़ुदा के बन्दों के गुमराह होने का शुब्हा होगा और उसकी ज़िम्मेदारी पलट कर ख़ुदा पर जायेगी ।

इसका इन्सान के आमाल पर वही नतीजा होगा जो हम ने अम्बिया की इस्मत में इसके पहले बयान किया है यानी जब इमाम, अगुवा और रास्ता दिखाने वाला पापी है तो आम लोगों की निगाह में गुनाह से कोई डर बाक़ी नहीं रहेगा बल्कि इन को गुनाह करने के लिए एक सनद (प्रमाण) मिल जायेगा। इन्सान को गुनाहों से दूर रखने के लिए यही मानना ज़्यादा फ़ायदा पहुँचाने वाला है कि इमाम (अ०) गुनाहों से दूर और मासूम (सारे गुनाहों से पाक) होते हैं।

तवल्ला (लगाव) और तबर्रा (दूर रहना):

ये इमामत के विश्वास से ही जुड़ा एक पहलू है। शियों का मानना है कि जो श्रेष्ठ लोग हैं और सच्चे अगुवा हैं उनके साथ लगाव और जो ग़लत दावेदार या झूठे अगुवा हों उनसे अलगाव और दूरी अख़्तियार करना और नाता तोड़ लेना ज़रूरी है। पहले का नाम ''तवल्ला'' और दूसरे का नाम ''तबर्रा'' है, ये दोनों विश्वास और कर्म से जुड़े हैं, जो रूह और जिस्म दोनों

के साथ जुड़े हैं। विश्वास और ज़मीर (अन्तःकरण) के इक़रार का नतीजा यही है कि वह बात ज़बान से ज़ाहिर हो, हालात मुनासिब हों और दिल की बात दिल में छिपाए रहने की कोई ख़ास वजह न हो। हक़ का ज़ाहिर करना बहरहाल इन्सान का प्राकृतिक हक़ है। हाँ, सामाजिक और शहरी अच्छाई के लेहाज़ से खुद इन्सान को अपनी देखरेख करना ज़रूरी है।

लेकिन अच्छे को अच्छा कहना और बुरे को बुरा कहना "आज़ाद प्रकृति" की एक स्वभाविक माँग है, जिसको न मानना प्रकृति से जंग करने के बराबर है। मगर लोग जो अपनी तरफ़ किसी कमी का एहसास करते हैं, वह इस बात का शिद्दत के साथ विरोध करते हैं। वह कहते हैं कि अच्छे को अच्छा तो कहो मगर बुरे को बुरा हरगिज न कहो ।

मौलाना अबुल कलाम 'आज़ाद' ने जो मुसलमानों के एक ऊँची समझबूझ वाले आलिम और बड़े राजनेता हैं, उन्होने अपने एक लेख में इस टापिक पर बहुत खुली हुई बात की है, जो 'इमामिया मिशन' की तरफ़ से "खिलाफ़त व इमामत" पार्ट-(5) के साथ परिशिष्ट में छापा गया है। आपको इससे 'तवल्ला' और 'तबर्रा' का नतीजा भी मालूम हो जाएगा। सच में बुराईयों से नफ़रत उस वक़्त तक पूरी नहीं होती जबतक बुरे लोगों को इन्सान बुरा न समझे और उनसे दूरी का एहसास बाक़ी न रखे। बुरे लोगों से रिश्ता तोड़ लेना और उनसे दूरी का इज़हार इन्सान की ज़ेहनियत में बुराई से ताल्लुक़ तोड़ लेने और उससे दूर रहने का जज़्बा इस तरह मज़बूत कर सकता है, जिसके बाद इन्सान खुद अपने कर्म से उन बुराईयों को हरग़िज नहीं करेगा।

कयामत (प्रलय):

इनाम और सज़ा के लिए इस ज़िन्दगी के बाद एक दूसरा काल निश्चित है जहाँ अच्छे और बुरे कामों का बदला दिया जाएगा। ये सब मुसलमानों का माना हुआ विश्वास है। मगर आर्य समाज के लोग इनाम और सज़ा के लिए एक दूसरी बात मानते हैं जिसका नाम है "आवागमन" इसके मानी ये है कि इन्सान की रूह एक जन्म में जो अच्छे या बुरे कर्म करती है उसका बदला दूसरे जन्म में दिया जाता है, चाहे दूसरे इन्सान के जिस्म में या जानवर, पेड़-पौधे या पत्थर की के रूप में, उनका मानना है कि रूह और शरीर दोनों हमेशा से हैं और रूह बराबर अलग-२ जिस्मों में चक्कर लगाती रहती है और ये आवागमन का चरख़ा बराबर चलता रहता है और कभी ख़त्म होने वाला नहीं ।

ये बात अक़्ली हैसियत से बिल्कुल ग़लत है । इनाम और सज़ा का असली राज़ सुख और दुख के एहसास में छिपा है जो इन्सान को मिलता है यानी इन्सान आराम या तकलीफ़ का एहसास करता है जिसका ताल्लुक़ समझ और सूझ-बूझ से है और यह चीज़ इस आवागमन के होते बिल्कुल नहीं पाई जाती क्योंकि जब कोई रूह नये जन्म में आती है तो उसे कोई एहसास नहीं होता कि उसने पहले जनम में क्या किया था और उसका क्या बदला हो रहा है ।

इसके अलावा अगर उसको नया जन्म जानवर या पेड़ या पत्थर के रूप में मिल जाए तो चूँकि इस हालत में अक़्ल और तमीज़ मौजूद ही नहीं होती, इसलिए अब इसके कर्म ऐसे नहीं समझे जा सकते जो इनाम और सज़ा को कहते हों इसलिए कोई वजह नहीं कि ये रूह फिर किसी दूसरे जिस्म में जाए और अगर वहां जाए तो उसे न कोई आराम होना चाहिए और न कोई तकलीफ़। हालांकि इनके ख़्याल में रूह के एक जन्म में अच्छे या बुरे काम का बदला दूसरे जन्म में मिलने का सिलसिला कभी ख़त्म नहीं होता और अच्छी या बुरी यानी आराम और तकलीफ़ से दुनिया का कोई जानवाला (जन्तु) बिल्कुल ख़ाली नहीं है ।

फिर ये देखिये कि रूहें नष्ट होने वाली नहीं, हमेशा से हैं, इसका मतलब ये है कि नई रूह पैदा तो होगी नहीं। अब ग़ौर कीजिए कि सिरजन के पहले दिन सब रूहें इन्सान के ढाँचे में थीं या कुछ जानवरों और कुछ पेड़-पौधों और कुछ पत्थरों के रूप में। ऐसे में पहली बात तो ये है कि इसकी कोई वजह सही नहीं मालूम होती कि कुछ रूहों को जानवरों या पेड़-पौधों या पत्थरों के रूप में रखा जाए, जब ये बुरे कर्मों का नतीजा होता है और बुरे काम होनी चीज़ हैं जो बाद में होते हैं । इसके अलावा ये देखना चाहिए कि वह रूहें जो इन्सान के ढाँचे में हैं उनके आमाल में भी फ़र्क़ होगा। जिनमें से कुछ

जानवरों के जिस्म में जाएंगी, कुछ पेड़ पौधों और कुछ पत्थरों के और फिर वह कि जो इन्सान के रूप में आयेंगी उनमें भी ये फ़र्क़ रहेगा। इसका नतीजा ये है कि इन्सानों की गिनती में बराबर कमी होती रहे और बराबर घटती रहे। हलांकि आज इसके बिल्कुल उल्टे दिखाई देता है। अगर ये कहा जाए कि जानवर और पेड़-पौधे और पत्थरों के चक्कर से गुज़रके और सज़ा पूरी करने के बाद फिर रूहें पाक होती हैं, और इन्सानों की शक्ल में सामने आती है तो आज का इन्सान जो उस दौर को ख़त्म करके आने वाली रूहों को लेकर आया है, इनको न कोई ग़म होना चाहिए न कोई खुशी, न कोई आराम न कोई दुःख होना चाहिए। ये भी जो दिखाई देता है उसके ख़िलाफ है। दुनिया का कोई इन्सान इन हालात यानी खुशी या ग़म से हरगिज़ ख़ाली नहीं है ।

बहुत से वह बच्चे हैं जो पैदा होते ही मर जाते हैं, इन्हें दुनिया में न चैन मिलता है न पीड़ा। इसकी कोई वजह मालूम नहीं होती, जबकि रूह के नये जन्म में लाने का मक़सद सिर्फ़ इनाम और सजा है मगर ये कहा जए कि इसका दुनिया में आके मर जाना ही इसके इनाम और सज़ा के लिए काफ़ी है तो फिर इसके आगे सिलसिला चलने की कोई वजह नहीं, जबकि इस दौर में कुछ ऐसे कर्म नहीं जिसके लिए सज़ा और इनाम का मौक़ा हो। इन सबसे हट कर इस कभी न ख़त्म होने वाले सिलसिले पर एक बुनियादी ऐतराज़ है और वह ये कि इनाम के मानी में ये बात छिपी हुई है कि इसके पहले कोई काम हो चुका है । इसलिये एक ऐसा आख़िरी बिन्दु मानना ज़रूरी है कि जहाँ पर काम हो और वह काम इनाम के तौर पर न हो । इस तरह ये सिलसिला सिमट जाता है। और अब पहले इन्सान के बारे में सवाल किया जाएगा कि क्या वह दुनिया में खुशी और ग़म दोनों से ख़ाली रहा होगा। हलांकि ये बात प्रकृति के क़ानून से बिल्कुल उलटी है। आर्यों की तरफ़ से आवागमन के सबूत में क़ुर्आन की इन आयतों को पेश किया जाता है जिन में पिछली कुछ समाजों के 'मस्ख़' यानी अच्छी सूरत से बुरी सूरत में बदल जाने का ब्यान किया गया है। यूँ भी 'मस्ख़' इन नतीजों से बिल्कुल अलग चीज़ है। 'मस्ख़' में रूह इस जिस्म को नहीं छोड़ती बल्कि इसी पिण्ड का रूप बदल जाता है और आवागमन में वह पहला इन्सान मर जाता है, इसकी लाश बेजान हो जाती है और ये रूह यहां से निकल कर किसी मां के पेट से जल्दी ही पैदा होने वाले बच्चे के अन्दर पहुँचती है और इसके साथ पैदा होती है। भला इसका उससे क्या लगाव है। फिर ये कि रूप बदलना सिर्फ़ कुछ समाजों, गुटों के लिए दुनियावी अज़ाब (प्रकोप) के रूप में बयान किया गया है, इससे ये कहां साबित होता है कि इनाम और सज़ा के आ़म सिस्टम का सिद्धाँत यही है और इसके अलावा आख़िरत का दिन कोई चीज़ ही नहीं है ।

आवागमन के मानने से इन्सानों के कर्मों और उस की ज़िन्दगी उसके अपने आपे और इच्छा में नहीं है, क्योंकि पहले चक्कर में जैसे काम किये होंगे उसी तरह की ज़िन्दगी उसे नसीब होगी। एक डाकू है तो वह उस डकैती पर मजबूर है क्योंकि ये नतीजा है उसके पिछले जन्म के कर्म का, और पिछला जन्म उसकी सकत व चाह की हदों से अब बाहर है। यहाँ इन्सान का हर आज उसके पिछले कल के साथ जुड़ा है और पिछली ज़िन्दगी उसके बस से बाहर। इसलिए इन्सान का कोई काल चक्र उसके बस में नहीं ठहरता और इस तरह इनाम और सज़ा का सवाल ही नहीं रहता।

बहरहाल अब देखिए कि चाल चलन और कर्म को सुधारने के लिए इनाम और सजा का कौन सा विश्वास ज़्यादा काम का और फ़ायदेवाला है। मालूम होना चाहिए कि इन्सान सचमुच जिस चीज़ से डरता है वह अपनी तकलीफ़ और अपने जान की पीड़ा से। कैसी ही हालत हो मगर वह समझ ले कि इसमें कोई तकलीफ़ नहीं है तो वह हरगिज़ उससे नहीं डरेगा। लोगों को अगले जन्म में किसी दूसरे रूप में पैदा हो जाना उसे बिल्कुल भी डरायेगा नहीं और इस बात का उस पर कोई असर नहीं पड़ेगा, क्योंकि वे जानते हैं कि जिस जन्म में वह पैदा होंगे उनकी प्रकृति और स्वभाव उसी जन्म के मुताबिक़ होगी और उन्हें हरिगज़ इसमें किसी मानसिक दुःख और तकलीफ़ का एहसास नहीं होगा।

दीवाना (पागल) हो जाना एक इन्सान के लिए कितना ही अफ़सोस के लायक़ हो मगर अफ़सोस दूसरे लाग करते हैं उसे खुद हरगिज़ इस पर अफ़सोस नहीं है

बल्कि हो सकता है कि वह इसमें मज़ा महसूस करता हो।

"दीवाना बाश ता ग़मे तू दीगराँ ख़ुरन्द" ।

दीवाना बन जा ताकि तेरा दुःख दूसरे उठाएं।

और फिर अगर सज़ा की क़िस्म उस इन्सान के स्वभाव से मेल खाती भी हो, मिसाल के तौर पर ग़ल्ले (चावल, गेहूँ वग़ैरह) के चोर को चूहे की शक्ल या पानी के चोर को मेढक के रूप और किसी बड़े पाको-पाकीजा इन्सान के हत्यारे को गाय का रूप हालांकि इस ज़रिये से गाय बनने के बाद क़ातिल वह खुद एक बड़े वर्ग के नज़दीक पवित्र और पूज्यनीय हो गया।

इस तरह की सज़ा का हरगिज़ वह विचार नहीं है जो इन्सान के दिल दिमाग़ पर असर करे और उसको अपने कर्मो की देखरेख पर मजबूर करे। इसके ख़िलाफ जज़ा (इनाम) और सज़ा की जो छवि इस्लाम सामने लाता है उनमें आराम व तकलीफ़ का अनुभव और सुख व दुःख का एहसास ज़्यादा खुला है।

क़ुर्आन की ये आयतें पढ़िये :-

"और काफ़िरों की ख़्वाहिशों और हसरतें" वग़ैरह इससे सीधी तरह से सूझबूझ और समझ का अन्दाज़ा होता है और ये वह है जिससे अज़ाब (सज़ा) की अहमियत का असर दिलों पर पड़ता है और कर्म को सुधारने की चिंता बैठ जाती है।

बेशक इस्लाम के विश्वास में भी इस दुनिया में इनाम और सज़ा का पता मिलता है मगर वह हर इन्सान को खुद उसी जन्म में कि जिसमें उसने कर्म किये हैं। हो सकता है कि उसको किसी अच्छे कर्मों के बदले में अल्लाह की तरफ़ से कुछ नेमतें दी जाएं या किसी बुरे कर्म की सज़ा में उस पर कोई मुसीबत डाली जाए, मगर इससे आख़िरत के दिन की ज़रूरत और उसकी अहमियत पर कोई असर नहीं पड़ता और खुद ये ख़्याल कि हमें हमारे कर्म का फल इस दुनिया में भी मिल सकता है, दुनिया को उसके कर्म सुधारने का न्यौता देने का एक साधन है, जिस तरह ये आयत कि :

"अल्लाह किसी जनसमूह की हालत नहीं बदलता जब तक वे खुद अपने से न बदल जायें"।

जिस का फ़ायदा ये है कि ख़ुदा की तरफ़ से दिये जाने वाले इनाम में बदलाव उनके अपने हालात के बदलने का नतीजा होती है। ये इन्सान के 'अपने' को सुधारने और अपने कर्मो के परखने का एक सर्वश्रेष्ठ साधन है।

पिछले बयानों का निचोड़ः

ऊपर बयान की हुई बातों से साफ़ मालूम होता है कि वही सच्चे विश्वास जो इस्लाम की ओर से हमें मिले हैं वही इन्सान के कर्मों को सुधारने का बेहतरीन साधन हो सकते हैं।

अब अगर हम देखें कि हमारे मज़हबी लोग अपने कर्मो और शिष्टाचार के लेहाज़ से दूसरे धर्म के लोगों से अच्छे नहीं दिखते, बल्कि कई प्रकार से बुरे ही पाए जाते हैं तो हमें समझ लेना चाहिए कि ये विश्वास सही-सही हमारे दिलों में बैठ ही नहीं पाये हैं और हमारे दिमाग़ों पर पूरी तरह उनका असर नहीं पड़ा है ।

हमें कोशिश करनी चाहिए कि जिन विश्वासों का हम ज़बान से प्रचार करते हैं और उसकी नसीहत करते हैं, हमारे कर्मो और चाल चलन से भी उनका बयान होना चाहिए यानी हमारे चाल चलन से भी वही बातें ज़ाहिर होनी चाहिए जैसा हम ज़बान से कहते हैं तभी हम सही तरीक़े से उन विश्वासों के मानने वाले समझे जा सकते हैं ।

बहरहाल हम अगर अपने बच्चों को सही तौर पर मोमिन (आस्तिक) बनाने का ख़्याल रखते हैं तो बचपन ही से हमें इनको ऊपर बयान किये गये विश्वासों को सिखाना चाहिए, सिर्फ़ इस तरह नहीं कि उन्हें धार्मिक किताबों के शब्दों को रटा दिया जाए, बल्कि इस तरह कि वह विश्वास इनके दिमाग़ में बैठ जाएँ और वह उन्हें समझ ले और यक़ीन कर ले यहां तक कि उनके कालेज और स्कूल के जीवन में इनके इन विश्वासों पर अगर कोई एतराज़ (Objection) किया जाए तो वह जवाब न दे सकें न सही, मगर उन्हें बेचैनी ज़रूर पैदा हो जाए कि हमारे मज़हब (धर्म) पर ये एतराज़ हुआ है तो हमें इसका जवाब ढूँढ कर उनके सामने रखना चाहिए। अगर हमारी नौजवान पीढ़ी में ये खोजबीन का जज़्बा और कोशिश की ख़्वाहिश पैदा हो जाए तो यही उनके मज़हब की सुरक्षा का बहुत बड़ा क़िला होगा, क्योंकि हमारा धर्म ताक़तवर है वह एतराज़ (Objection) और लाँछनों से डगमगा नहीं सकता, मगर शर्त ये है कि इस एतराज़ के जवाब देने का ख़्याल और इससे जुड़ी हुई खोजबीन और जिज्ञासा का जज़्बा पैदा हो। (..........जारी)